E-ISSN: 2664-603X
P-ISSN: 2664-6021
IJPSG 2019; 1(1): 07-09
Received: 07-02-2019
Accepted: 09-03-2019

डॉ. राजेश कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान विभाग, एस0 एस0 एस0 वी0 एस0 राजकीय स्नातकोत्तर महा0 चुनार, उत्तर प्रदेश, भारत

Correspondence
डॉ. राजेश कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान विभाग, एस0 एस0 एस0 वी0 एस0 राजकीय स्नातकोत्तर महा0 चुनार, उत्तर प्रदेश, भारत

सामाजिक न्याय : एक विवेचन

डॉ. राजेश कुमार

प्रस्तावना

न्याय सिद्धान्त के परंपरागत दृष्टिकोण का मुख्य सरोकार व्यक्ति का चरित्र था किन्तु आज आधुनिक दृष्टिकोण का मुख्य सरोकार सामाजिक न्याय से है। सामाजिक न्याय मुख्यतः समाज के वंचित वर्गों की दशा सुधारने की मांग करता है ताकि उन्हें सम्मानपूर्ण जीवन जीने का अवसर मिल सके। अतः यह विचार समाज की सब मूल्यवान वस्तुओं की वितरण–व्यवस्था पर पुनर्विचार की मांग करता है। आज के युग में न्याय की मुख्य समस्या यही है कि सामाजिक जीवन के अन्तर्गत विभिन्न व्यक्तियों या समूहों के प्रति वस्तुओं, सेवाओं, अवसरों, लाभों, शक्ति व सम्मान के साथ–साथ दायित्वों और बाध्यताओं के आंबटन का उचित आधार क्या होना चाहिए।[1]

भारत में सामाजिक न्याय की मांग सामाजिक अन्याय की देन है तथा जाति व्यवस्था और सामाजिक ढाँचा इस सामाजिक अन्याय की जड़ में है। वर्णाश्रम धर्म आधारित जाति व्यवस्था तो सामाजिक न्याय का निषेध ही करती है क्योंकि इसने हिन्दू वर्णाश्रम धर्म और जाति व्यवस्था में ब्राह्मणों को ऐसी अति उच्चधिकार प्राप्त जाति के रूप में आय बढ़ाया है जिन्हें जन्म के आधार पर ही सामाजिक श्रेष्ठता मिली। वही बहुसंख्यक लोगों को शूद्र और पंचम बताकर केवल शारीरिक श्रम के ही लायक समझा इस प्रकार के सामाजिक ढाँचे ने स्थिति की असमानता को तथा सभी के लिए समान अवसर के निषेध को जन्म दिया।

उपरोक्त दोनों मान्यताओं के विश्लेषण के पूर्व राजनीतिक विद्वानों के न्याय सिद्धान्तों का विवेचन आवश्यक है जिसका विवरण निम्न प्रकार है –

प्लेटो का न्याय–सिद्धान्त

प्राचीन यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो के चिंतन की मुख्य समस्या न्याय के स्वरूप का पता लगाने की थी। प्लेटो ने न्याय की जो तस्वीर खींची है वह परंपरागत दृष्टिकोण का उपयुक्त उदाहरण है। जिसमें उन्होने न्याय की स्थापना के उद्देश्य से नागरिक के कर्तव्यों पर बल दिया है। न्यायपूर्ण व्यवस्था की स्थापना के लिए नागरिकों के तीन वर्ग बनाए – दार्शनिक शासक सैनिक वर्ग और उत्पादक वर्ग। साथ ही यह तर्क भी दिया कि जब ये तीनों वर्ग निष्ठापूर्वक अपने–अपने कर्तव्यों का पालन करेंगे, तब राज्य की व्यवस्था अपने–आप न्यायपूर्ण होगी।[2] इस प्रकार प्लेटो का न्याय सिद्धान्त न्याय के नैतिक दर्शन को ही प्रस्तुत करता है।

अरस्तु का न्याय–सिद्धान्त

अरस्तू के अनुसार न्याय का सरोकार मानवीय सम्बधों के नियमन से है। अरस्तू का विश्वास था कि लोगों के मन में न्याय के बारे में एक–जैसी धारणा के कारण ही राज्य अस्तित्व में आता है। न्याय के प्रयोगक्षेत्र को ध्यान में रखते हुए अरस्तू ने न्याय के दो प्रकार बताएं हैं: पहला वितरण न्याय है तथा दूसरे को प्रतिवर्ती न्याय/परिशोधनात्मक न्याय अथवा प्रतिकारात्मक न्याय कहा है।[3]

वितरण न्याय का सरोकार सम्मान या धन–सम्पदा के वितरण से है। यह विधायक के विचारक्षेत्र मे आता है। इसका मूल सिद्धान्त यह है कि 'समान लोगो के साथ समान वर्ताव किया जाए'। इसके लिए सबसे पहले यह पता लगाना आवश्यक है कि नागरिकों को किस आधार पर समान या असमान माना जाए ? अरस्तू का विचार था कि इस मामले में प्रचलित प्रथाओं और प्रथागत कानून का सहारा लेना अधिक उपयुक्त होगा। लिखित कानून उतने उपयुक्त सिद्ध नही होंगे। क्योंकि इन्हें सत्ताधारी जब चाहे बना सकते हैं या बदल सकते हैं।

---

[1] गाबा, ओ.पी., राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, 2007, पृ. 359
[2] वही, पृ. 360
[3] गाबा, ओ.पी., राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, 2007, पृ. 361

साथ ही अरस्तू ने चेतावनी भी दी है मनुष्यों के चरित्र को बदलना उतना सरल नहीं है जितनी सरलता से कानून बदल दिए जाते हैं। प्रतिवर्ती न्याय का सरोकार लोगों के परस्पर लेन–देन को नियमित करने और अपराधों का दंड निर्धारित करने से है यह न्यायधीशों के विचारक्षेत्र में आता है। इसका ध्येय यह है कि व्यक्तियों के परस्पर लेन–देन मे दोनों पक्षों का पलड़ा बराबर रहे, किसी के साथ धोखा न हो किसी को हानि न उठानी पड़े। अपराध के मामले मे प्रतिवर्ती न्याय की मांग यह होगी कि इससे जिस पक्ष को हानि पहुंची हो उसकी संपूर्ण क्षतिपूर्ति कर दी जाए। संक्षेप में, प्रतिवर्ती या परिशोधनात्मक न्याय का उद्देश्य व्यक्तियों के परस्पर व्यवहार में संतुलन स्थापित करना या बिगड़े हुए संतुलन को फिर से स्थापित करना है।

राल्स का न्याय सिद्धान्त

जॉन राल्स (1921–2002) ने अपनी विख्यात कृति 'ए थ्योरी ऑफ जस्टिस' (1971) में तर्क दिया है कि उत्तम समाज में अनेक सद्गुण अपेक्षित होते हैं जिनमें न्याय का स्थान सर्वप्रथम है। न्याय उत्तम समाज की आवश्यक शर्त है परन्तु यही पर्याप्त नहीं है। किसी समाज में न्याय के अलावा दूसरे नैतिक गुणों की प्रधानता हो सकती है परन्तु अन्यायपूर्ण समाज विशेष रूप से निंदनीय होगा। जो विचारक यह मांग करते हैं कि सामाजिक उन्नति के कार्यक्रम में न्याय के विचार को आड़े नहीं आने देना चाहिए। वे समाज को नैतिक पतन की ओर ले जाने का खतरा मोल ले रहे होते हैं।[4]

राल्स के अनुसार न्याय की समस्या प्राथमिक वस्तुओं के न्यायपूर्ण वितरण की समस्या है। ये प्राथमिक वस्तुएं हैं अधिकार और स्वतन्त्रताएं, शक्तियाँ और अवसर, आय और संपदा तथा आत्मसम्मान के साधन। राल्स ने अपने न्याय–सिद्धान्त को शुद्ध प्रक्रियात्मक न्याय की संज्ञा दी है हांलाकि उसने इसके माध्यम से तात्विक न्याय की स्थापना का प्रयत्न किया है। 'प्रक्रियात्मक न्याय' से यह संकेत मिलता है कि न्याय के जो सिद्धान्त सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिए जाएंगे। उनके प्रयोग के फलस्वरूप जो भी वितरण–व्यवस्था अस्तित्व मे आएगी, वह अनिवार्यतः न्यायपूर्ण होगी। राल्स ने उन सिद्धान्तों की कटु आलोचना की है जो व्यक्ति की नैतिक मूल्यवत्ता की उपेक्षा करते हुए किसी पूर्वनिर्धारित लक्ष्य की पूर्ति करना चाहते हैं।[5]

वस्तुतः 'व्यक्ति की गरिमा' राल्स की न्याय प्रणली का केन्द्र विन्दु है। उपयोगितावाद सिद्धान्त 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' का हिसाब लगाते समय यह नहीं देखता कि इससे किसी व्यक्ति विशेष को कितनी क्षति हो सकती है राल्स के अनुसार–सुखी लोगों के सुख को कितना ही क्यों न बढ़ा दिया जाए, उससे दुःखी लोगों के दुःख का हिसाब बराबर नहीं किया जा सकता।

नॉजिक का न्याय–सिद्धान्त

रॉवर्ट नाजिक (1938–2002) ने अपनी चर्चित कृति 'एनार्की, स्टेट एंड युटोपिया' (1974) के अन्तर्गत न्याय के दो सिद्धान्तों में अन्तर किया है के एतिहासिक सिद्धान्त तथा दुसरा साध्यमूलक सिद्धान्त है। ऐतिहासिक सिद्धान्त के अनुसार लोगों की अतीत परिस्थितियों और अतीत कार्यों के आधार पर उनके वर्तमान अधिकार भिन्न भिन्न हो सकते हैं। इसके विपरित साध्यमूलक सिद्धान्तों के अनुसार लोगों के अधिकार किन्हीं विशेष लक्ष्यों की पूर्ति के उद्देश्य से निर्धारित करने चाहिए। उदाहरण के लिए उपयोगितावाद एक साध्यमूलक सिद्धान्त है जो 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' के लक्ष्य को सबके अधिकारों का उपयुक्त आधार मानता है। नॉजिक ने इस सिद्धान्त की तीव्र आलोचना की है।[6]

नॉजिक ने अपने सिद्धान्त को न्याय का अधिकारिता सिद्धान्त कहा जाता है। इसमें यह मानकर चलते हैं कि प्रचलित व्यवस्था के अन्तर्गत जो व्यक्ति जिस वस्तु का अधिकारी है, उसे उसकी सहमति के बिना किसी दूसरे को हस्तातरित नहीं किया जा सकता। क्योंकि विभिन्न मनुष्य अपनी प्रतिभा और प्रयास से सामाजिक उत्पादन में भिन्न–भिन्न योगदान करते हैं इसलिए उन्हें भिन्न–भिन्न पुरस्कार प्राप्त होना स्वाभाविक है। नॉजिक ने तर्क दिया है कि समाज में उत्पादन के स्तर पर जो असमानताएँ पाई जाती हैं उन्हें वितरण के स्तर पर बदलने का प्रयत्न विनाशकारी होगा। संसार मे कोई भी वस्तु शून्य से पैदा नहीं होती, बल्कि समाज की संपदा भिन्न–भिन्न व्यक्तियों के परिश्रम का परिणाम है। लोग व्यापार के द्वारा अपनी संपत्ति बढ़ाते हैं या उसे खो देते हैं। संपति का वर्तमान विवरण उनके स्वैच्छिक विनिमय का परिणाम है। न्यूनतम राज्य उनके इस अधिकार की रक्षा करता है। इस प्रक्रिया में किसी तरह के हस्तक्षेप का अर्थ होगा, व्यक्तियों के अधिकारों का उलंघन। अतः राज्य के समस्त कल्याणकारी कार्यक्रम सर्वथा अवैध है।[7]

हेयक का न्याय सिद्धान्त

रॉवर्ट नॉजिक की तरह एफ. ए. हेयक (1899–1922) भी प्रक्रियात्मक न्याय का प्रबल समर्थक है। हेयक ने तात्विक न्याय के विचार का खंडन करते हुए अपनी चर्चित कृति लॉ लेजिस्लेशन एडं लिवर्टीः द मिराज ऑफ सोशल जस्टिस' (1976) के अंतर्गत यह तर्क दिया है कि सामाजिक न्याय का विचार ही निरर्थक है। न्याय वस्तुतः मनुष्य के आचरण की विशेषता है कोई समाज न्यायपूर्ण या अन्यायपूर्ण नहीं हो सकता। यदि समानता के लिए स्वतन्त्रता में कटौती की जाती है तो जीवन–सामग्री के अन्यायपूर्ण वितरण के प्रश्न पर तनाव, कलह और विवाद अवश्य पैदा होंगे। न्याय की तलाश केवल प्रक्रिया का विषय है जिसका ध्येय स्वतन्त्रता को बढ़ावा देना है। इसके अतंर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपने–अपने ज्ञान और अपनी योग्यता के अनुसार अपने हितसाधन का अधिकतम अवसर मिलना चाहिए।[8]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सामाजिक न्याय का उद्देश्य एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना है जो अपने नागरिकों के बीच आधिकारों और कर्तव्यों का उचित निर्धारण तथा लाभों का सही वितरण कर सके। इसका आधारभूत तत्व स्वतन्त्रता एवं समानता है जहाँ ये निरपेक्ष न होकर सापेक्ष हैं जैसे यदि किसी सम्पन्न की स्वतन्त्रता की परिणति किसी विपन्न की दासता में हो, तब समाज में सम्पन्न की स्वतन्त्रता का परिसीमन स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का उल्लंघन नहीं अपितु परिपालन होगा। इस सम्बध में अमेरिकी विद्वान जॉन राल्स लिखते हैं कि सामाजिक न्याय इस धारणा पर आधारित है कि किसी समाज को तभी समतावादी माना जा सकता है जब वह समानता और एकजुटता के सिद्धान्तों पर आधारित हो वहाँ मानवाधिकारों का सम्मान तथा उनकी गरिमा की रक्षा की जाती हो इसमें एक सीमा तक विकलागों, वंचितो और निर्बलों को संरक्षण प्राप्त होता है। एक सीमित अर्थ में देखा जाए तो सामाजिक न्याय के अधिकार को निर्बलों, बुजुर्गों, असहायों, निराश्रितों, महिलाओं, बच्चों और अन्य वंचित वर्गों का अधिकार कहा जा सकता है।

एक आदर्श स्थिति में समाज में प्रत्येक व्यक्ति का अस्तित्व बिना किसी भेदभाव के स्वीकार्य हो तथा समाज में सभी सहुलियते उसे सम्मानित व्यक्ति के रूप मे पाने का अधिकार हो न कि उसकी

[4] गाबा, ओ. पी., राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, 2007, पृ. 360

[5] गाबा, ओ.पी., राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, 2007, पृ. 370

[6] वही, पृ. 374

[7] गाबा, ओ.पी., राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, 2007, पृ. 376

[8] वही, पृ. 376

सामाजिक–आर्थिक एवं अन्य कारण की वजह से। साथ ही उसे अपना स्थान अपनी योग्यता के अनुसार हासिल करने के सभी अधिकार प्राप्त हो तथा उसके अधिकारों, अस्तित्व एवं आकाक्षाओं का समान रूप से आदर भी किया जाए। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति के मानव अधिकार सर्वोपरि हों। मनुष्य जाति की सदस्यता के फलस्वरूप जो उसे प्राप्त है उसका सभी के द्वारा आदर एवं सम्मान किया जाए। इसी को हम आदर्श सामाजिक न्याय की स्थिति कह सकते हैं। प्रश्न उठता है कि इस मार्ग में बाधा क्या है? इस प्रश्न का उत्तर हमें दुःखी तथा शर्मसार करने वाला है क्योंकि दोषी कोई और नहीं हम स्वयं ही हैं। मानव अधिकार एवं गरिमा को ठेस पहुँचाने का कार्य मनुष्य और उसके द्वारा तैयार की गई व्यवस्थाएँ ही करती हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. गाबा, ओ.पी., राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, 2007।
2. ठाकुर हरिनारायण : 'दलित साहित्य का समाजशास्त्र' भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 2009।
3. ठाकुर खगेन्द : 'आज का 'वैचारिक संघर्ष' और' मार्क्सवाद' स्वराज प्रकाशन दिल्ली, 2005।
4. शाह घनश्याम : ''कास्ट एण्ड ड्रेमोक्रेटिक पालिटिक्स इन इण्डिया' परमानेन्ट ब्लेंक, नई दिल्ली, 2002।
5. क्षीर सागर, आर. के.: दलित्स मूवमेंट इन इंडिया एण्ड इटस लीडर्स (1857–1956) नई दिल्ली, 1994।
6. घूर्ये जी0एस0: 'कास्ट, क्लास एण्ड आक्यूपेशन,' पापुलर बुक डिपो, बांबे, 1969।
7. घनश्याम शाह, हर्ष मंदेर, सुखदेव थोराट, सतीश देश पाण्डे, अमित वाविस्करः ''अनटचबिलटी इन रूरल इंडिया'' सेज प्रकाशन, नयी दिल्ली ।
8. घोष, एस. के.: प्रोटेक्शन आफ माइनरिटीज एण्ड शिड्यूल्ड कास्टस, नई दिल्ली, 1980।
9. यादव विरेन्द्र सिंह : 'नयी सहस्त्राब्दी का दलित आन्दोलन मिथक एवं यथार्थ', ओमेगा पब्लिकेशन, नयी दिल्ली, 2010।